

## 'मेरी विचार यात्रा - संतुलन की तालाश और प्राकृतिक स्वराज'

-Aseem Shrivastava

दुनिया और भारत के वर्तमान परिवेश से हम बात शुरू करेंगे। आज की दुनिया हर तरह से असंतुलित है। हम इस असंतुलन का जायज़ा अपने शारिरिक स्वास्थ्य, अपनी मनो-दशा, और अपने बदलते रिश्तों से ले सकते हैं, या फिर राजनीति, संस्कृति और प्रकृति, सब की बिखरी, अराजक, डगमगाती अवस्था से। संकट पूरी आधुनिक सभ्यता का है, ना केवल इस या किसी और समाज का। किस्सा पुराना है , लेकिन २१वीं शताब्दी में डिजिटल युग इतिहास की रफ़्तार को दिन पर दिन और तेज़ करता जा रहा है। मानव समाज एक फ़िसलन-ग्रहित ढलान पर है। टेक्नोलोजी की तीव्र गति ने मानव-मूल्यों को दर-किनार कर दिया है। मानो, जैसा गांधीजी ने शंका व्यक्त की थी, आधुनिक समाज शापित है।

आज की तमाम समस्याएँ तब भी थीं जब हम दिल्ली विश्वविद्यालय में १९८०-८५ (1980- 85) में पढ़ते थे। समाजवाद उस समय की बौद्धिक हवा पर हावी था। हर चुनौती का हल समाजवादी परिप्रेक्ष्य में ढूँढ़ा जाता था। हम से कार्ल मार्क्स की 'कम्युनिस्ट मैनिफेस्टो' पढ़ने को बोला जाता था। काश गाँधीजी का 'हिन्द स्वराज' उस वख़्त की चर्चा में होता !

अब ऐसा मालूम पड़ता है कि कम्युनिस्ट मैनिफेस्टो अतीत की बात कर रहा था , जब की हिन्द स्वराज में भविष्य-चिंतन है। इसका ये मतलब नहीं कि हिन्द स्वराज के हर विचार को हम स्वीकार करते हैं। लेकिन उस पुस्तक के दर्शन से जूझना अब न केवल इस देश के लिए बल्कि समूची दुनिया के लिए अनिवार्य सा हो चला है।

### आधुनिक समाजवाद से कुछ प्रश्न

आधुनिक समाजवादी सोच पर कुछ बड़े प्रश्न-चिन्ह हमारे ज़ेहन में तब आये जब हम अमरीका में अपनी डॉक्टरेट ख़त्म कर रहे थे। बर्लिन-दीवार का ढलना दुनिया

ने देख ही लिया था. लेकिन मेरे प्रश्नों का उत्पात औपचारिक साम्यवाद के पतन से कम और मार्क्स एवं मार्क्सवाद के बुनियादी असूत्रों से ज़्यादा था. कुछ सवाल ऐसे थे:

१. पूरी उम्र हमने इन्सान को मूलतः एक आध्यात्मिक प्राणी माना है. ऐसा स्थायी विचार निर्विश्वास भौतिकवाद से भला कैसे मेल खाये ?

२. मार्क्स और मार्क्सवाद के लम्बे अध्ययन के बाद हमने साफ समझा कि ये यूरोप से निकली आधुनिक सभ्यता का ही एक प्रतिरोधक पक्ष है. ये कोई सार्वभौमिक दर्शन कैसे हो सकता है, खास कर जब युद्ध इस सभ्यता का अशेष असूत्र है और उसकी नींव दूर-दराज़ की जीवित संस्कृतियों के अवसान पर पड़ी है?

३. मार्क्स और मार्क्सवाद का आधुनिकता के साथ-साथ प्रगति की विचार-धारा में अटूट विश्वास है. क्या इस विचार-धारा ने कभी भी कबूल किया है कि इस प्रगति की कीमत प्रकृति और भिन्न संस्कृतियां चुकाती आयी हैं, और इस में पश्चिम की देशज संस्कृति भी शामिल है?

४. यूरोप की शेष मानसिकता के माफ़िक, मार्क्सवाद ने भी काल को केवल एकदिशायी समझा है. लेकिन साधारण भारतीय पारम्परिक जनमानस कल-आज-और-कल के रिश्ते की गोलाई समझता है. यही कारण है कि हम में से कई लोग संसार की तमाम आदिवासी सभ्यताओं को 'पिछड़ा' कभी नहीं मान सकते, खास कर इस पर्यावरण-संकट के युग में. क्या ऐसी समझ मार्क्सवाद को कबूल होगी ?

५. प्रगति के संग मार्क्स और मार्क्सवाद का मूल विश्वास तकनीक और टेक्नोलोजी में रहा है. क्या ऐसी सोच कभी भी मानेगी कि आज के युग की अधिकतम समस्याएं (जैसे की दुनिया के हर कोने में रफ़्तार से बढ़ती बेरोज़गारी और तीव्र गति से जल-वायु परिवर्तन) ऐसी ही विचारधारा का प्रशाद है ?

६. और सबसे बड़ा सवाल तो ये है : विलायत के महान विचारक फ्रांसिस बेकन ने १६वीं में "प्रकृति पर विजय" की बात की थी. क्या इस सोच को मार्क्स ने कभी नकारा ? या उनको ब्लेक और गेथे जैसे रोमांचवादी दार्शनिकों का औद्योगिक क्रांति का कड़ा खण्डन स्वीकार था ?

तो ये सवाल हमारे ज़ेहन में सालों तक तैरते रहे. इनके उत्तर हमें पश्चिम के अनूठे दार्शनिकों से तो मिले ही , कुछ ही समय में अपने स्वामी विवेकानंद, मुंशी प्रेमचंद, गाँधीजी और गुरुदेव ने दिमाग साफ़ और हल्का कर दिया. उनसे जो हमने सीखा उसने हमारे पश्चिम में लगभग १५-२० (15-20) वर्ष जीने निजी अनुभव पर भी प्रकाश डाला।

पश्चिम के दार्शनिक - खासकर विट्गेंस्टीन , नीत्ज़े और किएर्केगार्ड - को पढ़ के समझ में आया कि वहाँ की आधुनिकता ने दुनिया पे पंजे जमाने के लिए अपने और अपनों से कैसा और कितना छल किया है. खास कर के २०वीं शताब्दी के दो महायुद्धों के बाद पश्चिम की आत्म-संस्कृति तो छिछली और धराशाई हो चुकी है.

इसकी बात हिंदुस्तान के दार्शनिक और विचारकों ने सन-१९४७ (1947) से पहले ज़्यादा की. यह अचरज की बात है, और इसमें एक अनोखा विरोधाभास भी है कि दिमागी गुलामी अँगरेज़-काल में आज की तुलना में कहीं ज़्यादा कम थी. पढ़े-लिखे संपन्न लोग (और उनके बच्चे) अंग्रेजी में कम और अपनी भाषाओं में ज़्यादा बोलना पसंद करते थे. १९४७ (1947) के बाद हमने पश्चिम की संस्कृति-सभ्यता को उसके अपने परिवेश में देखना लगभग बंद कर दिया. अब हम शायद इतने ज़्यादा उन्ही के जैसे हो गए हैं जिन की हमने कई पीढ़ियों से नक़ल उतारी है कि हमें आज ना तो वो नज़र आते हैं और ना ही हमारा खुद से असल परिचय है. आज की भारतीय राजनीति की धारा इन ही भ्रमों के रस्ते बह रही है. पढ़े-लिखों में अधिकतर लोग भारत की आम जनता से बहुत ही काम वास्ता रखते हैं, और बाहरी ग्लोबल दुनिया से ज़्यादा. नतीजा ये होता है की भारत की आम जनता के लिए

कोई सुनवाई नहीं है और वो एक या दूसरे प्रकार की चुनावी राजनीति का शिकार होते हैं.

**अपने दार्शनिकों की भेट : प्राकृतिक स्वराज क्या हो सकता है ?**

विवेकानंद ने अपनी मृत्यु-शैल्या से १९०२ (1902) में एक श्रद्धापूर्ण चेतावनी दी थी: "अगर हिन्दुस्तान भगवान की तालाश में समर्पित रहेगा तो वो अमर हो जायेगा ; और अगर वो राजनीति और सामाजिक मतभेद में पड़ेगा तो उसकी मृत्यु निश्चित है." स्वामीजी के अल्प-शब्दों के गहरे सच का प्रमाण हमको १९४७ (1947) से निरंतर मिलता आया है; आज के 'हिंदू' शासकों को उनके कहन पर गौर करना चाहिए.

प्रेमचंद ने एक छोटे से लुप्त लेख के ज़रिये हमे ये समझाया कि आधुनिकता एक सभ्यता नहीं बल्कि एक विशाल हमले का नाम है; इस हमले का प्राचीन और मध्य-काल के हमले से बुनियादी भेद इस में है कि ये निरंतर और हमेशा के लिए होता है - ये कभी भी थमता नहीं, क्योंकि सदा बाज़ार-बढ़ोत्तरी (और उसके पीछे अनन्त लोभ) इसकी सैद्धान्तिक प्रेरणा है. तो युद्ध-प्रवृत्ति उसका मूल चरित्र है. भूमण्डली कॉरपोरेट साम्राज्य के युग में, जब 'disruption' को आज की मीडिया निहार-नज़र से हर ओर सम्मानित करती है, प्रेमचंद की बात रोज़ याद आती है.

कई चीज़ें गाँधीजी के 'हिन्द स्वराज' के पाठन के बाद समझ में आईं, और खास कर के ये कि जहाँ पश्चिम से उभरी आधुनिक सभ्यता की मुख्य मुहिम है कि दुनियावी जीवन को दिन पर दिन बाज़ारी उपयोगितावाद और टेक्नोलोजी की मदद से और जटिल बनाया जाए, वहीं इस देश की संस्कृति कुछ ऐसी है कि भौतिक जीवन को सरल रखना उसका एक मूलअसूल है.

अगर गाँधीजी ने ये लिखा कि समाज में डाक्टर और वकील नहीं होने चाहिए तो उनका ये तात्पर्य कतई नहीं था कि चिकित्सा या आपसी मतभेद सुलझाने के कोई तरीके न हों किसी कौम के पास ! अगर राज और समाज के दरमियाँ कोई

खास दरार न पड़े, तो समाज ऐसी चुनौतियों का सामना अपने न्यायपूर्ण ढंग से कर लेता है. ना ही गांधीजी के स्वराज का मतलब है सांस्कृतिक बाँसीपन। ठीक उसका उल्टा. भौतिक जीवन सहज रहे तो जन-संस्कृति और जन-मानस तमाम रचना-कार्यों के लिए मुक्त हो जाते हैं. आधुनिक भौतिक प्रलोभन मनुष्य को काम और उपभोग के ज़रिये मशीनों और यंत्रों का गुलाम बनाता जाता है. खास कर जब आज के 'user-friendly' यन्त्र हमारी समझ से पूरी तरह से निहित और अस्पष्ट हों, तो हमारी कल्पना-शक्ति और सृजन-प्रतिभा पर एक गुप्त-प्रहार होता है, जिसके प्रति हम आम तौर से ना-वाकिफ़ रहते हैं. इसके अतिरिक्त, आज के यन्त्र बेहिसाब बेसब्री पैदा कर रहे हैं हर तरफ, जिसका नतीजा कई बार हिंसा में तब्दील होता है.

साधारणतः जब हम स्वराज का अंग्रेजी में तरजुमा करते हैं, तो democracy शब्द का इस्तेमाल करते हैं. लेकिन ऐसा करना नाजायज़ है. स्वराज और गणतंत्र (ना कि प्रजातन्त्र या लोकतंत्र) में आसमान-ज़मीन का फ़र्क है. जब उन्होंने 'हिन्द स्वराज' पुस्तक की रचना की, तो इन दोनों अवधारणाओं का अंतर गाँधीजी की दृष्टि में साफ़ था. उन्होंने ब्रिटेन की संसद को गुलामी का प्रतीक बताया था. ये समझ आज की मीडिया-ग्रस्त सर्वसत्तावादी सामूहिक समाजों पर कुछ और ज़्यादा लागू होती है.

गांधीजी का ग्राम स्वराज का साधारण सपना तो कहीं पीछे इतिहास के पन्नों में गोला-बारूद के नीचे दब गया. जब गांव ही नहीं बचेंगे तो स्वराज का ख़्वाब भी कैसे ज़िंदा रहे भला ! (स्वराज और उदारवादी गणतंत्र के तमाम भेदों पर हम गौर करेंगे).

मेरा रबीन्द्रनाथ का लम्बा अध्ययन अभी भी ज़ारी है. इस में सबसे उल्लेखनीय बात है उनका प्रकृति-दर्शन. उन्होंने प्रकृति और पुरुष का अटूट, घनिष्टतम रिश्ता उपनिषदों से तो समझा ही, अपने खुद के अनुभव ने उन्हें बहुत कुछ दिखाया-सिखाया. ये उनकी हर दूसरी कविता-कहानी में, गायन-नाटक में व्यक्त होता है. पश्चिम की आधुनिक संस्कृति की मुख्य-धारा से रबीन्द्रनाथ अपने को बहुत दूर

महसूस करने लगे थे अपने अंतिम वर्षों में, लेकिन वहाँ का रोमांचवादी दर्शन उनके हृदय के बहुत करीब था. मुख्य-धारा की तुलना हमें आज गुरुदेव की 'मुक्त-धारा' से करना है.

शब्द ज़रूर अलग हों, क्योंकि रबीन्द्रनाथ आध्यात्मिक थे और उनका किसी भी राजनीति में विश्वास बहुत सीमित था. लेकिन स्वराज पर उन्होंने न केवल लम्बे अरसे तक सोच-साधना की, बंगाल से बाहर बहुत कम लोग जानते हैं कि शांतिनिकेतन के निकट श्रीनिकेतन में उनकी पहल से लम्बा प्रयोग चला जिस में कृषि और नाना प्रकार के हस्त-शिल्प एवं ग्रामोद्योग थे.

आज के वैश्विक डिजिटल-सर्वसत्ता के परिवेश में ध्यान में रखने वाली ज़रूरी बात यह है कि १९४७ (1947) से पूर्व पण्डित नेहरू और डाक्टर अम्बेडकर के इलावा बहुत कम महापुरुषों ने इस मुल्क की समस्याओं को 'विकास' के दायरे में समझा. विकास शब्द पुराना है. लेकिन विकास की अवधारणा का चलन १९४० (1940) के दशक में दुनिया भर में शुरू हुआ, खास कर के वॉशिंगटन के 'विश्व-बैंक' के सौजन्य से. आधुनिकता के हमले को छिपाने में विकास की अवधारणा का आज के मोदीशाही भारतीय 'जुक्केबेर्गेआ' में मूल भूमिका है.

विकास के तमाम प्रसार-प्रचार, और आधुनिकता की चकाचौंध से ये मूल तत्त्व छिप जाता है. रबीन्द्रनाथ जैसे दृष्टाओं ने विकास तो दूर, 'पल्ली-पुनःगठन' की बात रखी थी. गौर तलब रहे कि ऐसे प्रयोग में भारत के आधुनिक इतिहास की क्या समझ है और उन में किस तरह का काल-दर्शन है. जिस विविधता, एकाई और समग्र दुनिया की महा-कल्पना ऐसे प्रयोगों में पेश आती है, जिस में सामाजिक दर्शन, रचना, सहयोग और सेवा-भाव को रोज़ मौका मिलता है, ये प्राकृतिक स्वराज का अटूट अंश है. आज, जब कि हम सब 'बिग डेटा' का शिकार हैं, ये अवसर हमसे छीने जा रहे हैं. इन चीज़ों की जगह बाज़ार हड़पता जा रहा है और आधुनिक समाजवादी और प्रगतिशील वामपंती राजनीतिक सोच के पास इन पहेलियों का जवाब नहीं है.

ऐसा सोचना भी काल्पनिक महसूस होता है कि सेवा-भाव जैसी चीज़ रही है इस समाज में, और कितनी जगहों पर अभी भी दिखती है ! हैरत इस बात की है कि ये महत्वपूर्ण चीज़ें इस संस्कृति की समग्रता में सदियों से कायम रही हैं. साथ ही कायम थी 'वसुधैव कुटुम्बकम्' में आस्था, जिसका प्रतीक हम को आज भी दिखता है जब भी हमारी नज़र किसी बरगद या पीपल के वृक्ष के नीचे किसी देवी या देवता की मूर्त पर पड़ती है. हिंदुस्तान का दोनों अपनी प्रति और दुनिया के प्रति फ़र्ज़ बनता है कि वह विचार , व्यवहार, और प्रयोग में एक नया प्रकृति-दर्शन पेश करे. वरना समय के साथ , जैसे जैसे लोग 'अंधे' होते जायेंगे, बिकाऊ समाज में टिकाऊ विकास ढूँढ़ते-ढूँढ़ते, वैसे-वैसे स्थिति बद से बदतर होती जायेगी। अपने मूल ख्यालों से मजबूर आधुनिकता मानवी रिश्तों को ठेके पर डाल देती है , जिससे अल्पकालीन फ़ायदा सिर्फ वकीलों और मुनीमों को मिलता है और समाज टूटता-बिखरता रहता है.

कोई भी संस्कृति त्रुटि-हीन नहीं होती. भारतीय सभ्यता में भी तमाम अन्याय और कमज़ोरियाँ रही हैं. जाति और धर्म निरंतर बँटवारा के कारण बने रहते हैं. औरतों पर हिंसा कोई नयी बात नहीं. लेकिन आधुनिकता के नाम पर ये खामियाँ और उलझ गयी हैं. 'मोदीशाही की जुक्केर्बेर्गिआ' में परिस्थिति और विकट हो गयी है. हिंदुस्तान की देशज संस्कृति को ध्वस्त करने में मुख्य ज़िम्मेदारी उस साम्राज्यवादी बाज़ारवाद की है जिससे हमको जुकेरबर्ग के इस बौखलाए युग में फिर से जूझना है, सृजन ज़रिये ज़्यादा, बनिस्पत संघर्ष के. चुनौतियाँ चाहे जो भी हों, आज की दुनिया हल और जवाब मांगती है, खण्डन के लिए उस में सब्र बहुत कम बचा है. वैसे भी , पर्यावरण संकट इतना गहरा और लम्बा है (और जिसका जवाब पश्चिम की आधुनिक संस्कृति से नहीं मिल सकता) , कि हमारे पास समय की अभूतपूर्व किल्लत है.

यही कारण है कि हम को प्राकृतिक स्वराज के बारे में राजनीतिक रूप से कम और आध्यात्मिक, सांस्कृतिक और नैसर्गिक ढंग से ज़्यादा सोचना पड़ेगा. गाँधी और

रबीन्द्रनाथ दोनों इस बात पर एक नज़र रखते थे कि प्रकृति हमारी आत्मा का दिखता अंश है, और हमारी आत्मा प्रकृति का निहित हिस्सा.

नया ज़माना आएगा ज़रूर , लेकिन उस में अतीत और भविष्य दोनों रहेंगे , और वो अपने साथ आध्यात्मिक प्रकृति की खुशबू ले कर आएगा !

\*\*\*\*\*